भाषा की तरलता और अनुभव की गहनता से बनी *मिट्टी का इत्र*

अंजना त्रिवेदी

मिट्टी का इत्र

लेखक : दिलीप चिंचालकर

प्रकाशक : जुगनू तक्षशिला की प्रकाशन छाप

ऐसी किताब अरसे बाद मिली, जिसके रस ने भीतर तक भिगो दिया और जिसकी महक का ख़ुमार सौंधी गीली मिट्टी का असर लिए हुए है। यह किताब है *मिट्टी का इत्र* और इसके लेखक हैं दिलीप चिंचालकर। जुगनू प्रकाशन से छपी इस किताब में चित्रकार दिलीप चिंचालकर (1951–2000) ने अपने बचपन और बाद के भी कई अनुभव दर्ज किए हैं। 21 कहानियों से बनी यह किताब कुल 94 पेजों में सिमटी है। यों तो हर बच्चे के जीवन में परिवेश का असर होता है, लेकिन इन अनुभवों को लिखने का जैसा सलीक़ा दिलीपजी ने निभाया है, उससे इस किताब को पढ़ने वाले बच्चों को भी अपने अनुभवों को दर्ज करने की प्रेरणा मिलेगी। इस किताब को पढ़ते हुए आप नीम के पेड़ पर आती-जाती गौरैया की चहलक़दमी देख-सुन सकते हैं, कोयल और कौवों की बातें सुन सकते हैं, नस्टुर्शियम पौधे के बारे में सोच सकते हैं, रात में खुले आसमान में सप्तऋषियों से गपशप कर सकते हैं और उनसे इशारा करके पूछ सकते हैं कि आज बारिश का कोई इरादा तो नहीं है न!

दिलीपजी की इस किताब में मनुष्य से क़ुदरत के सम्बन्धों को बहुत गहराई से देखा गया है। तकनीकी ज़माने में जब क़ुदरत से हमारा रिश्ता ख़त्म होता जा रहा है, ऐसे में यह किताब इन रिश्तों के महत्त्व को उभारती है। किताब के ज़्यादातर लेख इसी विषय पर हैं। लेखक बताते हैं कि जानवरों, पक्षियों, फूलों, पेड़ों, दीमकों, पत्थरों, आदि की दुनिया भी हमारी दुनिया है। हम मनुष्यों की दुनिया में ऐसे खो जाते हैं कि क़ुदरत से हमारा रिश्ता छूट जाता है। क़ुदरत हमें कैसे और क्या सिखाती है, इस विषय पर बहुत-से अनुभव इस किताब में हैं। बारिश आने के क्या-क्या क़ुदरती लक्षण हैं, देखिए, "मैंने बिल्लियों पर ध्यान रखा कि कहीं वे ज़मीन तो नहीं खोद रहीं! कहीं गौरैयाँ धूल में लोट तो नहीं लगा रहीं। चुहियों की तबियत का अन्दाज़ा लेने की कोशिश की। छत पर जाकर देखा कि कहीं वहाँ पड़ी खटिया अकड़ तो नहीं गई। डिब्बे खोलकर देखे कि नमक और गुड़ पसीज तो नहीं गए। क्योंकि कहते हैं कि ये सब तुम्हारे (बारिश के) आने के लक्षण हैं।" इसी तरह क़ुदरत मौसम के

बदलने की चेतावनी कैसे देती है, पशु-पक्षियों की दुनिया से हम क्या सीख सकते हैं, आदि पर लेखक ने बहुत बारीक़ नज़र से विचार किया है। बदलते मौसम की पदचाप को पहचानते हुए दिलीपजी लिखते हैं, "पचास-पचपन साल पहले

की बात है। बारिश के मौसम में मैदान-खेत घास से भर जाते थे। दिवाली आते-आते घास तक पककर पीली-गुलाबी हो जाती थी। गाय-बैल सालभर इसे चाव से खाते थे... फिर इसकी जगह गोखरू और चिरचिटा (कहते हैं जिसके बीजों से सिर धोने पर सालभर बालों में जूँ नहीं होतीं) की झाड़ियों ने ले ली। चालीस साल पहले अमरीका से मैक्सिकन गेहूँ क्या आया, उसके साथ गाज़र घास भी भारत आ गई। तब से शहरी पड़त ज़मीनों पर उसने क़ब्ज़ा कर लिया।" इस उद्धरण के सहारे हम देख सकते हैं कि लेखक सिर्फ़ स्थानीय नहीं, बल्कि स्थानीय के वैश्विक से सम्बन्ध पर भी निगाह डालते चलते हैं।

क़ुदरत हमें क्या कुछ नहीं देती, लेकिन इंसान क्या ख़ुद को क़ुदरत का हिस्सा मानता है? क्या वह क़ुदरत के मालिक की तरह व्यवहार नहीं करता? किताब इन सवालों से जूझती हुई इंसान और क़ुदरत के बीच सामंजस्य की तरफ़दारी करती है। इसी किताब के एक अध्याय 'मेरे बग़ीचे का पीर नीम बाबा' में दिलीपजी लिखते हैं, "यह हर मौसम का पेड़ है। इसलिए नहीं कि मैं इसे हर मौसम में घर के अहाते में खड़ा देख सकता हूँ बल्कि इसलिए कि साल के हर दिन बग़ीचे में रहने वाले हम प्राणियों के लिए यह कुछ-न-कुछ लिए होता है। अभी इसकी हर पतली टहनी की हर छोटी डण्डी की हर बारीक़ काड़ी पर ताँबई रंग की हरी होती पत्तियाँ हैं और हल्के सफ़ेद फूलों की लड़ियाँ हैं। कभी देखे हैं नीम के फूल? दादी इनसे मीठा शर्बत बनाती थीं, ताऊजी डण्ठलों से दातून करते थे, मैं कड़वी पत्तियों को चबाता हूँ। अपना-अपना स्वभाव है।" किताब का एक अध्याय 'भाषा भौंक से, अर्थ कान से' में लेखक बताते हैं कि कुत्तों की भाषा उन्होंने कैसे सीखी। इसी तरह 'पत्थर का शोरबा और दूसरे क़िस्सागो पत्थर' नामक अध्याय में वे दिखाते हैं कि हालाँकि मनुष्य ख़ुद को बहुत महत्त्वपूर्ण और क़ुदरत के केन्द्र में मानता है, लेकिन कोई छोटा-से-छोटा पत्थर भी हज़ारों-लाखों साल का इतिहास अपने भीतर समाए हो सकता है।

दिलीपजी के पिता, विष्णु चिंचालकर एक बड़े चित्रकार थे, जिन्हें सभी गुरुजी कहते थे। उनके बारे में 'बचपन चित्रकार पिता के साथ' नाम के अध्याय के सहारे लेखक दिखाते हैं कि कलाकार होना, दुनिया से अलग या ऊपर होना नहीं है। अपने पिता के चित्रों की चर्चा करते हुए

वे सामान्य वस्तुओं, रोज़मर्रा की चीज़ों, पत्थरों आदि में व्यक्त कला को रेखांकित करते हैं। इस किताब में और भी कई जगह इस विचार की अभिव्यक्ति है कि कला या कलाकार ठीक उसी तरह जीवन का हिस्सा हैं, जैसे बाक़ी मनुष्य, या वनस्पतियाँ, या मिट्टी-पत्थर, आदि। पिता की याद में लिखे गए इसी अध्याय में वे कलाकार के लिए अच्छे गुरु और अच्छे मित्रों की ज़रूरत चिह्नित करते हैं। पत्रकार, शास्त्रीय गायक और नाटककार मित्रों ने पिताजी की कला को कैसे प्रभावित किया, इसका ज़िक्र भी इस अध्याय में किया गया है।

इस किताब में एक अध्याय शास्त्रीय गायक कुमार गंधर्व के बारे में भी है। लेखक, कुमार गंधर्व की तुलना ऐसे यक्ष से करते हैं जिसे किसी भूल के नाते स्वर्ग के राजा ने स्वर्ग से बाहर कर दिया, और वह गायक धरती पर कुमार गंधर्व बनकर आया। इस लेख में कुमार गंधर्व के सहारे इस बात पर भी चर्चा की गई है कि सारे शास्त्रीय संगीत का आधार लोकगीत होते हैं।

ऐसी किताबें स्कूली परिसर का हिस्सा बनें तो बच्चे रटन्त ज्ञान से दूर, देश-दुनिया की कहानियों से रूबरू होंगे, उनपर सोचेंगे और भाषा का कुशलता से उपयोग समझ-सीख सकेंगे। जब भी ज्ञान प्रायोजित होता है, वह बोरियत-भरा और प्रभावहीन होता है परन्तु अगर उसमें जीवन का अनुभव हो और उसे सरल ज़ुबान में कहा जाए तो वह बहुत काम का होता है। प्रस्तुत किताब इन शर्तों को अच्छी तरह पूरी करती है। भाषा-कौशल, पर्यावरण अध्ययन में अवलोकन-चिन्तन सहसम्बन्ध और विश्लेषण, इन जैसी किताबों के सहारे ये सब काम कर सकते हैं।

अपनी जड़ों से हमें जोड़ती हुई यह किताब परिवेश के साथ सामंजस्यपूर्ण जीवन जीने की कला सिखाती है। किताब को पढ़ते हुए लग रहा था कि यह किताब माध्यमिक और उच्च माध्यमिक कक्षाओं के सभी बच्चे-बच्चियों के पास जा सके तो कितना अच्छा हो! किताब के सहारे बच्चों को उनके अनुभव भी लिखने को कहा जाए। यदि सभी बच्चे क़ुदरत के विभिन्न पहलुओं, मसलन बारिश या अपने आसपास के पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों, आदि के बारे में अनुभव लिखेंगे, तो सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में मदद के साथ हमें समाज की नब्ज़ को समझने में भी मदद मिलेगी।

किताब की साज-सज्जा बहुत बढ़िया है। चूँकि लेखक ख़ुद चित्रकार हैं, इसलिए किताब में दिए गए चित्रों और कहानियों में अच्छी संगति बैठती है। ख़ासकर क़ुदरत सम्बन्धी चित्र बहुत मोहक हैं। यह भी अच्छी बात है कि किताब पूरी तरह शब्दों से नहीं भरी गई है। चित्रों के

लिए पर्याप्त जगह दी गई है। इस किताब का सम्पादन सुशील शुक्ल ने किया है।

उम्मीद है कि सरकारी और ग़ैर-सरकारी संस्थाओं के प्रयास से बच्चों की दुनिया में साहित्य की उतनी ख़ुशबू महकने लगे, जितनी दिलीप चिंचालकर ने *मिट्टी का इत्र* में बिखेर दी है। साहित्य की किताब पढ़ने की कोई उम्र बँधी नहीं होती, किन्तु यह किताब, जो मुझे 51 साल की उम्र में मिल रही है, अगर 8 या 9 साल की उम्र में मिलती तो मैं भी अपने जीवन और अपने आसपास को ज़्यादा बारीक़ नज़र से देख पा रही होती। ख़ैर, अब भी अगर यह भूल सुधर जाए तो बड़ी बात होगी।

अंजना त्रिवेदी विगत ढाई दशकों से सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय हैं। शिक्षण–प्रशिक्षण के साथ ही पत्र–पत्रिकाओं के लिए सतत लेखन रहा है। महिला स्वास्थ्य, शिक्षा एवं नागरिक अधिकार इनके प्रमुख विषय रहे हैं। अंजना ने पिछले दस सालों तक अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, भोपाल, मध्यप्रदेश में सामाजिक विज्ञान स्रोत व्यक्ति के रूप में काम किया है। वर्तमान में शिक्षा के क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से बतौर सलाहकर कार्य कर रही हैं।

सम्पर्क : trivedi20anjana@gmail.com